श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता अथाष्टादशो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(म्)

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो, तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश, पृथक्केशिनिषूदन ॥ 1 ॥

अर्जुन बोले- हे महाबाहो! हे अन्तर्यामिन्! हे वासुदेव! मैं संन्यास और त्याग के तत्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां(ङ्) कर्मणा न्यासं(म्), सन्न्यासं(ङ्) कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं(म्), प्राहुस्त्यागं(वँ) विचक्षणाः ॥ 2 ॥

श्री भगवान बोले- कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं ।

त्याज्यं(न्) दोषवदित्येके, कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।

यज्ञदानतपः(ख्)कर्म, न त्याज्यमिति चापरे ॥ 3 ॥

कई एक विद्वान ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिए त्यागने के योग्य हैं और दूसरे विद्वान यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं ।

निश्चयं(म्) श्रृणु मे तत्र, त्यागे भरतसत्तम ।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र, त्रिविधः(स्) सम्प्रकीर्तितः ॥ 4 ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! संन्यास और त्याग, इन दोनों में से पहले त्याग के विषय में तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि त्याग सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का कहा गया है ।

यज्ञदानतपः(ख्)कर्म, न त्याज्यं(ङ्) कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं(न्) तपश्चैव, पावनानि मनीषिणाम् ॥ 5 ॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने के योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप -ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं ।

एतान्यपि तु कर्माणि, सङ्गं(न्) त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति में पार्थ, निश्चितं(म्) मतमुत्तमम् ॥ 6 ॥

इसलिए हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों को तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों को आसक्ति और फलों का त्याग करके अवश्य करना चाहिए, यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ।

नियतस्य तु सन्न्यासः(ख्), कर्मणो नोपपद्यते ।

मोहात्तस्य परित्यागस्- तामसः(फ्) परिकीर्तितः ॥ 7 ॥

नियत कर्म का स्वरूप से त्याग करना उचित नहीं है। इसलिए मोह के कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है ।

दुःखमित्येव यत्कर्म, कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।

स कृत्वा राजसं(न्) त्यागं(न्), नैव त्यागफलं(लँ) लभेत् ॥ 8 ॥

जो कुछ कर्म है वह सब दुःखरूप ही है- ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेश के भय से कर्तव्य-कर्मों का त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्याग के फल को किसी प्रकार भी नहीं पाता ।

कार्यमित्येव यत्कर्म, नियतं(ङ्) क्रियतेऽर्जुन ।

सङ्गं(न्) त्यक्त्वा फलं(ञ्) चैव, स त्यागः(स्) सात्त्विको मतः ॥ 9 ॥

हे अर्जुन! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है- इसी भाव से आसक्ति और फल का त्याग करके किया जाता है- वही सात्त्विक त्याग माना गया है ।

न द्वेष्ट्यकुशलं(ङ्) कर्म, कुशले नानुषज्जते ।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो, मेधावी छिन्नसं(म्)शयः ॥ 10 ॥

जो मनुष्य अकुशल कर्म से तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता- वह शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान और सच्चा त्यागी है ।

न हि देहभृता शक्यं(न्), त्यक्तुं(ङ्) कर्माण्यशेषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागी, स त्यागीत्यभिधीयते ॥ 11 ॥

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्य द्वारा सम्पूर्णता से सब कर्मों का त्याग किया जाना शक्य नहीं है, इसलिए जो कर्मफल त्यागी है, वही त्यागी है- यह कहा जाता है ।

अनिष्टमिष्टं(म्) मिश्रं(ञ्) च, त्रिविधं(ङ्) कर्मणः(फ्) फलम् ।

भवत्यत्यागिनां(म्) प्रेत्य, न तु सन्न्यासिनां(ङ्) क्वचित् ॥ 12 ॥

कर्मफल का त्याग न करने वाले मनुष्यों के कर्मों का तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ- ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात अवश्य होता है, किन्तु कर्मफल का त्याग कर देने वाले मनुष्यों के कर्मों का फल किसी काल में भी नहीं होता ।

पञ्चैतानि महाबाहो, कारणानि निबोध मे ।

साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि, सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ 13 ॥

हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के ये पाँच हेतु कर्मों का अंत करने के लिए उपाय बतलाने वाले सांख्य-शास्त्र में कहे गए हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान ।

अधिष्ठानं(न्) तथा कर्ता, करणं(ञ्) च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा, दैवं(ञ्) चैवात्र पञ्चमम् ॥ 14 ॥

इस विषय में अर्थात कर्मों की सिद्धि में अधिष्ठान और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के करण एवं नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव है ।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्- कर्म प्रारभते नरः ।

न्याय्यं(वँ) वा विपरीतं(वँ) वा, पञ्चैते तस्य हेतवः॥ 15 ॥

मनुष्य मन, वाणी और शरीर से शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है- उसके ये पाँचों कारण हैं ।

तत्रैवं(म्) सति कर्तार- मात्मानं(ङ्) केवलं(न्) तु यः ।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्-न स पश्यति दुर्मतिः ॥ 16 ॥

परन्तु ऐसा होने पर भी जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि होने के कारण उस विषय में यानी कर्मों के होने में केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता समझता है, वह मलीन बुद्धि वाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता।

यस्य नाहङ्कृतो भावो, बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्- न हन्ति न निबध्यते ॥ 17 ॥

जिस पुरुष के अन्तःकरण में मैं कर्ता हूँ ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मरता है और न पाप से बँधता है ।

ज्ञानं(ञ्) ज्ञेयं(म्) परिज्ञाता, त्रिविधा कर्मचोदना ।

करणं(ङ्) कर्म कर्तेति, त्रिविधः(ख्) कर्मसङ्ग्रहः ॥ 18 ॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय - ये तीनों प्रकार की कर्म-प्रेरणा हैं और कर्ता, करण तथा क्रिया - ये तीनों प्रकार का कर्म-संग्रह है।

ज्ञानं(ङ्) कर्म च कर्ता च, त्रिधैव गुणभेदतः ।

प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने, यथावच्छृणु तान्यपि ॥ 19 ॥

गुणों की संख्या करने वाले शास्त्र में ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गए हैं, उनको भी तु मुझसे भलीभाँति सुन ।

सर्वभूतेषु येनैकं(म्), भावमव्ययमीक्षते ।

अविभक्तं(वँ) विभक्तेषु, तज्ज्ञानं(वँ) विद्धि सात्त्विकम् ॥ 20 ॥

जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक-पृथक सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मभाव को विभागरहित समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान ।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं(न्), नानाभावान्पृथग्विधान् ।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु, तज्ज्ञानं(वँ) विद्धि राजसम् ॥ 21 ॥

किन्तु जो ज्ञान अर्थात जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को अलग-अलग जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्- कार्ये सक्तमहैतुकम्।

अतत्त्वार्थवदल्पं(ञ्) च, तत्तामसमुदाहृतम्॥ 22 ॥

परन्तु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीर में ही सम्पूर्ण के सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थ से रहित और तुच्छ है- वह तामस कहा गया है ।

नियतं(म्) सङ्गरहित- मरागद्वेषतः(ख्) कृतम।

अफलप्रेप्सुना कर्म, यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ 23 ॥

जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ और कर्तापन के अभिमान से रहित हो तथा फल न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग-द्वेष के किया गया हो- वह सात्त्विक कहा जाता है ।

यत्तु कामेप्सुना कर्म, साहङ्कारेण वा पुनः।

क्रियते बहुलायासं(न्), तद्राजसमुदाहृतम्॥ 24 ॥

परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है तथा भोगों को चाहने वाले पुरुष द्वारा या अहंकारयुक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ।

अनुबन्धं(ङ्) क्षयं(म्) हिं(म्)सा- मनवेक्ष्य च पौरुषम् ।

मोहादारभ्यते कर्म, यत्तत्तामसमुच्यते॥ 25 ॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचारकर केवल अज्ञान से आरंभ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है ।

मुक्तसङ्गोऽनहं(वँ)वादी, धृत्युत्साहसमन्वितः ।

सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः(ख्), कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ 26 ॥

जो कर्ता संगरहित, अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष -शोकादि विकारों से रहित है- वह सात्त्विक कहा जाता है ।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्- लुब्धो हिं(म्)सात्मकोऽशुचिः।

हर्षशोकान्वितः(ख्) कर्ता, राजसः(फ्) परिकीर्तितः॥ 27 ॥

जो कर्ता आसक्ति से युक्त कर्मों के फल को चाहने वाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोक से लिप्त है वह राजस कहा गया है ।

अयुक्तः(फ्) प्राकृतः(स्) स्तब्धः(श्), शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।

विषादी दीर्घसूत्री च, कर्ता तामस उच्यते ॥ 28 ॥

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षा से रहित घमंडी, धूर्त और दूसरों की जीविका का नाश करने वाला तथा शोक करने वाला, आलसी और दीर्घसूत्री है वह तामस कहा जाता है ।

बुद्धेर्भेदं(न्) धृतेश्चैव, गुणतस्त्रिविधं(म्) श्रृणु ।

प्रोच्यमानमशेषेण, पृथक्त्वेन धनं(ञ्)जय ॥ 29 ॥

हे धनंजय! अब तू बुद्धि का और धृति का भी गुणों के अनुसार तीन प्रकार का भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णता से विभागपूर्वक कहा जाने वाला सुन ।

प्रवृत्तिं(ञ्) च निवृत्तिं(ञ्) च, कार्याकार्ये भयाभये।

बन्धं(म्) मोक्षं(ञ्) च या वेत्ति, बुद्धिः(स्) सा पार्थ सात्त्विकी ॥ 30 ॥

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्ति मार्ग को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को तथा बंधन और मोक्ष को यथार्थ जानती है- वह बुद्धि सात्त्विकी है ।

यया धर्ममधर्मं(ञ्) च, कार्यं(ञ्) चाकार्यमेव च।

अयथावत्प्रजानाति, बुद्धिः(स्) सा पार्थ राजसी॥ 31 ॥

हे पार्थ! मनुष्य जिस बुद्धि के द्वारा धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है ।

अधर्मं(न्) धर्ममिति या, मन्यते तमसावृता।

सर्वार्थान्विपरीतां(म्)श्च, बुद्धिः(स्) सा पार्थ तामसी॥ 32 ॥

हे अर्जुन! जो तमोगुण से घिरी हुई बुद्धि अधर्म को भी यह धर्म है ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य संपूर्ण पदार्थों को भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है ।

धृत्या यया धारयते, मनः(फ्)प्राणेन्द्रियक्रियाः।

योगेनाव्यभिचारिण्या, धृतिः(स्) सा पार्थ सात्त्विकी ॥ 33 ॥

हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धारण शक्ति से मनुष्य ध्यान योग के द्वारा मन, प्राण और इंद्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है ।

यया तु धर्मकामार्थान्- धृत्या धारयतेऽर्जुन।

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी, धृतिः(स्) सा पार्थ राजसी॥ 34 ॥

परंतु हे पृथापुत्र अर्जुन! फल की इच्छावाला मनुष्य जिस धारण शक्ति के द्वारा अत्यंत आसक्ति से धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, वह धारण शक्ति राजसी है ।

यया स्वप्नं(म्) भयं(म्) शोकं(वँ), विषादं(म्) मदमेव च।

न विमुञ्चति दुर्मेधा, धृतिः(स्) सा पार्थ तामसी॥ 35 ॥

हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारण शक्ति के द्वारा निद्रा, भय, चिंता और दुःख को तथा उन्मत्तता को भी नहीं छोड़ता अर्थात धारण किए रहता है- वह धारण शक्ति तामसी है ।

सुखं(न्) त्विदानीं(न्) त्रिविधं(म्), श्रृणु मे भरतर्षभ।

अभ्यासाद्रमते यत्र, दुःखान्तं(ञ्) च निगच्छति ॥ 36 ॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकार के सुख को भी तू मुझसे सुन। जिस सुख में साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादि के अभ्यास से रमण करता है और जिससे दुःखों के अंत को प्राप्त हो जाता है।

यत्तदग्रे विषमिव, परिणामेऽमृतोपमम्।

तत्सुखं(म्) सात्त्विकं(म्) प्रोक्त- मात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ 37 ॥

जो ऐसा सुख है, वह आरंभकाल में यद्यपि विष के तुल्य प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है, इसलिए वह परमात्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला सुख सात्त्विक कहा गया है।

विषयेन्द्रियसं(यँ)योगाद्-यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।

परिणामे विषमिव, तत्सुखं(म्) राजसं(म्) स्मृतम्॥ 38 ॥

जो सुख विषय और इंद्रियों के संयोग से होता है, वह पहले- भोगकाल में अमृत के तुल्य प्रतीत होने पर भी परिणाम में विष के तुल्य है इसलिए वह सुख राजस कहा गया है ।

यदग्रे चानुबन्धे च, सुखं(म्) मोहनमात्मनः।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं(न्), तत्तामसमुदाहृतम्॥ 39 ॥

जो सुख भोगकाल में तथा परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा गया है ।

न तदस्ति पृथिव्यां(वँ) वा, दिवि देवेषु वा पुनः।

सत्त्वं(म्) प्रकृतिजैर्मुक्तं(यँ), यदेभिः(स्) स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ 40 ॥

पृथ्वी में या आकाश में अथवा देवताओं में तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां(म्), शूद्राणां(ञ्) च परन्तप।

कर्माणि प्रविभक्तानि, स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ 41 ॥

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किए गए हैं ।

शमो दमस्तपः(श्) शौचं(ङ्), क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं(वँ) विज्ञानमास्तिक्यं(म्), ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ 42 ॥

अंतःकरण का निग्रह करना, इंद्रियों का दमन करना, धर्मपालन के लिए कष्ट सहना, बाहर-भीतर से शुद्ध रहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, मन, इंद्रिय और शरीर को सरल रखना, वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदि में श्रद्धा रखना, वेद-शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्मा के तत्त्व का अनुभव करना- ये सब-के-सब ही ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ।

शौर्यं(न्) तेजो धृतिर्दाक्ष्यं(यँ), युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमीश्वरभावश्च, क्षात्रं(ङ्) कर्म स्वभावजम्॥ 43 ॥

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना, दान देना और स्वामिभाव- ये सब-के-सब ही क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं(वँ), वैश्यकर्म स्वभावजम्।

परिचर्यात्मकं(ङ्) कर्म, शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ 44 ॥

खेती, गोपालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार - ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः(स्), सं(म्)सिद्धिं(ल्ँ) लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः(स्) सिद्धिं(य्ँ), यथा विन्दति तच्छृणु॥ 45 ॥

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्ति रूप परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार से कर्म करके परमसिद्धि को प्राप्त होता है, उस विधि को तू सुन ।

यतः(फ्) प्रवृत्तिर्भूतानां(य्ँ), येन सर्वमिदं(न्) ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य, सिद्धिं(व्ँ) विन्दति मानवः॥ 46 ॥

जिस परमेश्वर से संपूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है , उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः(फ्), परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

स्वभावनियतं(ङ्) कर्म, कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ 47 ॥

अच्छी प्रकार आचरण किए हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किए हुए स्वधर्मरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता ।

सहजं(ङ्) कर्म कौन्तेय, सदोषमपि न त्यजेत्।

सर्वारम्भा हि दोषेण, धूमेनाग्निरिवावृताः॥ 48 ॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि धूएँ से अग्नि की भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त हैं ।

असक्तबुद्धिः(स्) सर्वत्र, जितात्मा विगतस्पृहः।

नैष्कर्म्यसिद्धिं(म्) परमां(म्), सन्न्यासेनाधिगच्छति॥ 49 ॥

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अंतःकरण वाला पुरुष सांख्ययोग के द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त होता है ।

सिद्धिं(म्) प्राप्तो यथा ब्रह्म, तथाप्नोति निबोध मे।

समासेनैव कौन्तेय, निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ 50 ॥

जो कि ज्ञान योग की परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य सिद्धि को जिस प्रकार से प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होता है, उस प्रकार को हे कुन्तीपुत्र! तू संक्षेप में ही मुझसे समझ ।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो, धृत्यात्मानं(न्) नियम्य च।

शब्दादीन्विषयां(म्) स्त्यक्त्वा, रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ 51 ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी, यतवाक्कायमानस।

ध्यानयोगपरो नित्यं(वँ), वैराग्यं(म्) समुपाश्रितः॥ 52 ॥

अहङ्कारं(म्) बलं(न्) दर्पं(ङ्), कामं(ङ्) क्रोधं(म्) परिग्रहम्।

विमुच्य निर्ममः(श्) शान्तो, ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ 53 ॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करने वाला, शब्दादि विषयों का त्याग करके एकांत और शुद्ध देश का सेवन करने वाला, सात्त्विक धारण शक्ति के द्वारा अंतःकरण और इंद्रियों का संयम करके मन, वाणी और शरीर को वश में कर लेने वाला, राग-द्वेष को सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्य का आश्रय लेने वाला तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग करके निरंतर ध्यान योग के परायण रहने वाला, ममतारहित और शांतियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में अभिन्नभाव से स्थित होने का पात्र होता है ।

ब्रह्मभूतः(फ्) प्रसन्नात्मा, न शोचति न काङ्क्षति।

समः(स्) सर्वेषु भूतेषु, मद्भक्तिं(लँ) लभते पराम्॥ 54 ॥

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव से स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसी के लिए शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियों में समभाव वाला योगी मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है ।

भक्त्या मामभिजानाति, यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां(न्) तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरम्॥ 55 ॥

उस पराभक्ति के द्वारा वह मुझ परमात्मा को, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्व से जान लेता है तथा उस भक्ति से मुझको तत्त्व से जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा, कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।

मत्प्रसादादवाप्नोति, शाश्वतं(म्) पदमव्ययम्॥ 56 ॥

मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो संपूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाता है ।

चेतसा सर्वकर्माणि, मयि सन्न्यस्य मत्परः।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य, मच्चित्तः(स्) सततं(म्) भव॥ 57 ॥

सब कर्मों को मन से मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धि रूप योग को अवलंबन करके मेरे परायण और निरंतर मुझमें चित्तवाला हो ।

मच्चित्तः(स्) सर्वदुर्गाणि, मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

अथ चेत्वमहङ्कारान्, न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ 58 ॥

उपर्युक्त प्रकार से मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपा से समस्त संकटों को अनायास ही पार कर जाएगा और यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को न सुनेगा तो नष्ट हो जाएगा अर्थात परमार्थ से भ्रष्ट हो जाएगा ।

यदहंङ्कारमाश्रित्य, न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते, प्रकृतिस्त्वां(न्) नियोक्ष्यति ॥ 59 ॥

जो तू अहंकार का आश्रय लेकर यह मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है, क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्ध में लगा देगा ।

स्वभावजेन कौन्तेय, निबद्धः(स्) स्वेन कर्मणा ।

कर्तुं(न्) नेच्छसि यन्मोहात्- करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ 60 ॥

हे कुन्तीपुत्र! जिस कर्म को तू मोह के कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा ।

ईश्वरः(स्) सर्वभूतानां(म्), हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि, यन्त्रारूढानि मायया॥ 61 ॥

हे अर्जुन! शरीर रूप यंत्र में आरूढ़ हुए संपूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थित है ।

तमेव शरणं(ङ्) गच्छ, सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परां(म्) शान्तिं(म्), स्थानं(म्) प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ 62 ॥

हे भारत! तू सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही शरण में जाने जा। उस परमात्मा की कृपा से ही तू परम शांति को तथा सनातन परमधाम को प्राप्त होगा ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं(ङ्), गुह्याद्गुह्यतरं(म्) मया ।

विमृश्यैतदशेषेण, यथेच्छसि तथा कुरु ॥ 63 ॥

इस प्रकार यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुमसे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञान को पूर्णतया भलीभाँति विचार कर, जैसे चाहता है वैसे ही कर ।

सर्वगुह्यतमं(म्) भूयः(श्), श्रृणु मे परमं(वँ) वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढमिति, ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ 64 ॥

संपूर्ण गोपनीयों से अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचन को तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा ।

मन्मना भव मद्भक्तो, मद्याजी मां(न्) नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं(न्) ते, प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ 65 ॥

हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करने वाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यंत प्रिय है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य, मामेकं(म्) शरणं(व्ँ) व्रज ।

अहं(न्) त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ 66 ॥

संपूर्ण धर्मों को अर्थात संपूर्ण कर्तव्य कर्मों को मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान, सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा। मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

इदं(न्) ते नातपस्काय, नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं(न्), न च मां(य्ँ) योऽभ्यसूयति ॥ 67 ॥

तुझे यह गीत रूप रहस्यमय उपदेश किसी भी काल में न तो तपरहित मनुष्य से कहना चाहिए, न भक्ति रहित से और न बिना सुनने की इच्छा वाले से ही कहना चाहिए तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिए ।

य इमं(म्) परमं(ङ्) गुह्यं(म्), मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।

भक्तिं(म्) मयि परां(ङ्) कृत्वा, मामेवैष्यत्यसं(म्)शयः॥ 68 ॥

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्र को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा- इसमें कोई संदेह नहीं है ।

न च तस्मान्मनुष्येषु, कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।

भविता न च मे तस्मा- दन्यः(फ्) प्रियतरो भुवि ॥ 69 ॥

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभर में उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्य में होगा भी नहीं ।

अध्येष्यते च य इमं(न्), धर्म्यं(म्) सं(व्ँ)वादमावयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाह-मिष्टः(स्) स्यामिति मे मतिः ॥ 70 ॥

जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों के संवाद रूप गीताशास्त्र को पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा- ऐसा मेरा मत है ।

श्रद्धावाननसूयश्च, श्रृणुयादपि यो नरः ।

सोऽपि मुक्तः(श्) शुभाँल्लोकान्- प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ 71 ॥

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टि से रहित होकर इस गीताशास्त्र का श्रवण भी करेगा, वह भी पापों से मुक्त होकर उत्तम कर्म करने वालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होगा ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं(म्) पार्थ, त्वयैकाग्रेण चेतसा ।

कच्चिदज्ञानसम्मोहः(फ्), प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ 72 ॥

हे पार्थ! क्या इस गीताशास्त्र को तूने एकाग्रचित्त से श्रवण किया? और हे धनञ्जय! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः(स्) स्मृतिर्लब्धा, त्वप्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसं(न्)देहः(ख्), करिष्ये वचनं(न्) तव ॥ 73 ॥

अर्जुन बोले- हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थिर हूँ, अतः आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ।

सं(ञ्)जय उवाच

इत्यहं(वँ) वासुदेवस्य, पार्थस्य च महात्मनः ।

सं(वँ)वादमिममश्रौष-मद्भुतं(म्) रोमहर्षणम् ॥ 74 ॥

भावार्थ :संजय बोले- इस प्रकार मैंने श्री वासुदेव के और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमांचकारक संवाद को सुना ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवा-नेतद्गुह्यमहं(म्) परम् ।

योगं(यँ) योगेश्वरात्कृष्णात्- साक्षात्कथयतः(स्) स्वयम्॥ 75 ॥

भावार्थ :श्री व्यासजी की कृपा से दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योग को अर्जुन के प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण से प्रत्यक्ष सुना।

राजन्सं(म्)स्मृत्य सं(म्)स्मृत्य, सं(वँ)वादमिममद्भुतम्।

केशवार्जुनयोः(फ्) पुण्यं(म्), हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ 76 ॥

हे राजन! भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवाद को पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ।

तच्च सं(म्)स्मृत्य सं(म्)स्मृत्य, रूपमत्यद्भुतं(म्) हरेः ।

विस्मयो मे महान् राजन्-हृष्यामि च पुनः(फ्) पुनः ॥ 77 ॥

हे राजन्! श्रीहरि के उस अत्यंत विलक्षण रूप को भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्त में महान आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ।

यत्र योगेश्वरः(ख्) कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्- ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ 78 ॥

हे राजन! जहाँ योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन है, वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है- ऐसा मेरा मत है ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे
मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥18॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।